जैसे विशिष्ट पात्रके न मिलने पर जिस किसी पात्रमें भोजन करनेसे चित्तमें दीनता और हीनताका अनुभव होना अनिवार्य है। अतः स्वावलम्बी भिक्षुको करपात्रके सिवाय अन्य प्रकार उपयुक्त नहीं हैं। 'जिस प्रकार पहिले प्राप्त हुए संस्कृत सुस्वादु अन्नको छोड़कर अन्यके घरमें जैसा तैसा नीरस भोजन करनेमें भिक्षुको दीनता नहीं आती उसी तरह कपाल आदिके ग्रहण करनेमें कोई दोष नहीं हैं' यह समाधान ठीक नहीं है क्योंकि चिरतपस्वी संयतकी शरीरयात्रा आहारके बिना नहीं चल सकती, अतः नीरस प्रासुक आहार कभी कभी ले लिया जाता है उस तरह पात्रकी आवश्यकता अनिवार्य नहीं है।

धर्मका वर्णन—

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागा-
किञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

उत्तमक्षमा आदि दस धर्म हैं।

§ १. गुप्तियोंमें प्रवृत्तिका सर्वथा निरोध होता है। जो उसमें असमर्थ हैं उन्हें प्रवृत्तिके सम्यक् प्रकार बतानेके लिए एषणा आदि समितियोंका उपदेश है। प्रवृत्ति करने वालेके प्रमाद परिहारके लिए—सावधानीसे वरतनेके लिए उत्तमक्षमा आदि धर्मोंका उपदेश है।

§ २. शरीर-यात्राके लिए पर-घर जाते समय भिक्षुको दुष्ट जनोंके द्वारा गाली हँसी अवज्ञा ताड़न शरीर-छेदन आदि क्रोधके असह्य निमित्त मिलनेपर भी कलुषताका न होना उत्तम क्षमा है।

§ ३. उत्तम जाति कुल रूप विज्ञान ऐश्वर्य श्रुत लाभ और शक्तिसे युक्त होकर भी इनका मद नहीं करना, दूसरेके द्वारा परिभवके निमित्त उपस्थित किये जानेपर भी अभिमान नहीं होना मानहारी मार्दव है।

§ ४. मन वचन और कायमें कुटिलता न होना आर्जव-सरलता है।

§ ५-८. आत्यन्तिक लोभकी निवृत्तिको शौच कहते हैं। शुचिका भाव या कर्म शौच है। मनोगुप्तिमें मनके व्यापार का सर्वथा निरोध किया जाता है। जो पूर्ण मनोनिग्रहमें असमर्थ हैं उन्हें पर वस्तुओं सम्बन्धी अनिष्ट विचारोंकी शान्तिके लिए शौच धर्मका उपदेश है। अतः इसका मनोगुप्तिमें अन्तर्भाव नहीं होता। आकिंचन्य धर्म स्वशरीर आदिमें संस्कार आदिकी अभिलाषा दूर करके निर्ममत्व बढ़ानेके लिए है और शौच धर्म लोभकी निवृत्तिके लिए, अतः दोनों पृथक् हैं। स्व और पर विषयक जीवनलोभ आरोग्यलोभ इन्द्रियलोभ और उपभोगलोभ इस तरह मुख्यतः चार प्रकारका लोभ होता है। इसीलिए शौच धर्म मुख्यतः चार प्रकारका होता है।

§ ९-१०. सत्पुरुषोंसे साधुवचन बोलना सत्य है। भाषा समितिमें संयत साधु या असाधु किसीसे भी वचन व्यवहार यदि करे तो हित और मित करे अन्यथा राग और अनर्थदण्ड आदि दोष होते हैं। परन्तु सत्य धर्ममें अपने सहधर्मी साधुओं या भक्तोंसे धर्मवृद्धिनिमित्त या ज्ञान चारित्र आदिकी शिक्षाके लिए बहुत बोलना भी स्वीकृत है।

§ ११-१४. ईर्यासमिति आदिमें प्रवर्तमान मुनिको उनकी प्रतिपालनाके लिए प्राणिपीड़ाका परिहार और इन्द्रियोंसे विरक्तिको संयम कहते हैं। एकेन्द्रियादि जीवोंकी हिंसाका परिहार करना प्राणिसंयम है और शब्दादि विषयोंसे विरक्तिको इन्द्रियसंयम कहते हैं। अतः भाषादिकी निवृत्तिको संयम नहीं कह सकते; क्योंकि इसका निवृत्तिरूप गुप्तियोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। विशिष्ट कायादिप्रवृत्तिको भी संयम नहीं कह सकते क्योंकि वह समितिमें अन्तर्भूत हो जाती है। इसी तरह आत्यन्तिक त्रसस्थावरवधका निषेध भी संयम नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह परिहारविशुद्धि चारित्रमें अन्तर्भूत हो जाता है।

§ १५. संयम दो प्रकार का होता है—एक उपेक्षा संयम और दूसरा अपहृत संयम। देश और कालके विधानको समझने वाले स्वाभाविक रूपसे शरीरसे विरक्त और तीन गुप्तियों के धारक व्यक्तिके राग और द्वेष रूप चित्तवृत्तिका न होना उपेक्षा संयम है। अपहृत संयम उत्कृष्ट मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारका है। प्रासुक वसति और आहार मात्र हैं बाह्य साधन जिनके तथा स्वाधीन हैं ज्ञान और चारित्र रूप करण जिनके ऐसे साधुका बाह्य जन्तुओंके आनेपर उनसे अपनेको बचाकर संयम पालना उत्कृष्ट अपहृत संयम है। मृदु उपकरणसे जन्तुओंको बुहार देनेवालेके मध्यम और अन्य उपकरणोंकी इच्छा रखने वालेके जघन्य अपहृत संयम होता है।

§ १६. इस अपहृत संयमके प्रतिपादनके लिए ही इन आठ शुद्धियोंका उपदेश दिया गया है—भावशुद्धि कायशुद्धि विनयशुद्धि ईर्यापथशुद्धि भिक्षाशुद्धि प्रतिष्ठापनशुद्धि शयनासनशुद्धि और वाक्यशुद्धि। कर्मके क्षयोपशमसे जन्य, मोक्षमार्गकी रुचिसे जिसमें विशुद्धि प्राप्त हुई है और जो रागादि उपद्रवोंसे रहित है वह भावशुद्धि है। इसके होनेसे आचार उसी तरह चमक उठता है जैसे कि स्वच्छ दीवालपर आलेखित चित्र। यह समस्त आवरण और आभरणोंसे रहित, शरीर संस्कारसे शून्य, यथाजात मलको धारण करनेवाली, अंगविकारसे रहित और सर्वत्र यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्तिरूप है। यह मूर्तिमान् प्रशमसुखकी तरह है। इसके होनेपर न तो दूसरोंसे अपनेको भय होता है और न अपनेसे दूसरोंको।

अर्हन्त आदि परमगुरुओंमें यथायोग्य पूजा-भक्ति आदि तथा ज्ञान आदिमें यथाविधि भक्तिसे युक्त गुरुओंमें सर्वत्र अनुकूलवृत्ति रखनेवाली, प्रभ स्वाध्याय वाचना कथा और विज्ञप्ति आदिमें कुशल, देशकाल और भावके स्वरूपको समझनेमें तत्पर तथा आचार्यके मतका आचरण करनेवाली विनयशुद्धि है। समस्त सम्पदाएँ विनयमूलक हैं। यह पुरुषका भूषण है। यह संसार-समुद्रसे पार उतारनेके लिए नौकाके समान है।

अनेक प्रकारके जीवस्थान जीवयोनि जीवाश्रय आदिके विशिष्ट ज्ञानपूर्वक प्रयत्नके द्वारा जिसमें जन्तुपीड़ाका बचाव किया जाता है, जिसमें ज्ञान सूर्यप्रकाश और इन्द्रियप्रकाशसे अच्छी तरह देखकर गमन किया जाता है तथा जो शीघ्र विलम्बित सम्भ्रान्त विस्मित लीलाविकार अन्य दिशाओंकी ओर देखना आदि गमनके दोषोंसे रहित गतिवाली है वह ईर्यापथशुद्धि है। इस के होनेपर संयम उसी तरह प्रतिष्ठित होता है जैसे कि सुनीतिसे विभव।

जिसमें भिक्षाको जाते समय दोनों ओर दृष्टि रखी जाती है, पूर्वापर स्वांगदेशका परिमार्जन होता है, आचारसूत्रोक्त काल देश प्रकृति आदिकी प्रतिपत्तिमें जो कुशल है, जिसमें लाभ-अलाभ मान-अपमान आदिमें समान मनोवृत्ति रहती है, लोकगर्हित कुलोंका परिवर्जन करनेवाली, चन्द्रकी तरह कम और अधिक गृहोंकी जिसमें मर्यादा हो, विशिष्ट विधानवाली, दीनअनाथदानशाला विवाह यज्ञ भोजन आदिका जिसमें परिहार होता है, दीनवृत्तिसे रहित, प्रासुक आहार ढूँढ़ना ही जिसका मुख्य लक्ष्य है, तथा आगमविधिसे प्राप्त निर्दोष भोजनसे ही जिसमें प्राणयात्रा चलाई जाती है वह भिक्षाशुद्धि है। जैसे साधुजनोंकी सेवासे गुणसम्पत्ति मिलती है उसी तरह भिक्षाशुद्धिसे चारित्र-सम्पत्ति। यह लाभ और अलाभ तथा सरस और विरसमें समान सन्तोष होनेसे भिक्षा कही जाती है। जैसे गाय गहनोंसे सजी हुई सुन्दर युवतीके द्वारा लाई गई घासको खाते समय घासको ही देखती है लानेवालीके अंग सौन्दर्य आदिको नहीं, अथवा अनेक जगह यथालाभ उपलब्ध होनेवाले चारेके पूरेको ही खाती है उसकी सजावट आदिको नहीं देखती उसी तरह भिक्षु भी परोसनेवालेके मृदुललित रूप वेष और विलास आदिके देखनेकी उत्सुकता नहीं रखता और न आहार सूखा है या गीला या कैसे चाँदी आदिके बर्तनोंमें रखा है या कैसी उसकी योजना की गई है आदिकी ओर ही उसकी दृष्टि

रहती है, वह तो जैसा भी आहार प्राप्त होता है वैसा खाता है। अतः भिक्षाको गौकी तरह चार-गोचार या गवेषणा कहते हैं। जैसे वणिक् रत्न आदिसे लदी हुई गाड़ीमें किसी भी तेलका लेपन करके-ओंगन देकर उसे अपने इष्ट स्थानपर ले जाता है उसी तरह मुनि भी गुणरत्नसे भरी हुई शरीररूपी गाड़ीको निर्दोष भिक्षा देकर उसे समाधिनगरतक पहुँचा देता है, अतः इसे अक्षम्रक्षण कहते हैं। जैसे भण्डारमें आग लग जानेपर शुचि या अशुचि कैसे भी पानीसे उसे बुझा दिया जाता है उसी तरह यति भी उदराग्निका प्रशमन करता है अतः इसे उदराग्निप्रशमन कहते हैं। दाताओंको किसी भी प्रकारकी बाधा पहुँचाये बिना मुनि कुशलतासे भ्रमरकी तरह आहार ले लेते हैं, अतः इसे भ्रमराहार या भ्रामरी वृत्ति कहते हैं। जिस किसी भी प्रकारसे गड्ढा भरनेकी तरह मुनि स्वादु या अस्वादु अन्नके द्वारा पेटरूपी गड्ढेको भर देता है अतः इसे स्वभ्रपूरण भी कहते हैं।

प्रतिष्ठापन शुद्धिमें तत्पर संयत देश और कालको जानकर नख रोम नाक थूक वीर्य मलमूत्र या देहपरित्यागमें जन्तुबाधाका परिहार करके प्रवृत्ति करता है।

शय्या और आसनकी शुद्धिमें तत्पर संयतको स्त्री क्षुद्र चोर मद्यपान जुआ शराबी और पक्षियोंको पकड़नेवाले आदिके स्थानोंमें नहीं बसना चाहिये, और शृंगार विकार आभूषण उज्ज्वलवेष वेश्याक्रीड़ा मनोहर गीत नृत्य वादित्र आदिसे परिपूर्णशाला आदिमें रहना आदिका त्याग करना चाहिये। उन्हें तो प्राकृतिक गिरिगुफा वृक्षकी खोह तथा शून्य मकान या छोड़े हुए ऐसे मकानोंमें बसना चाहिये जो उनके उद्देश्यसे नहीं बनाये गये हों और न जिनमें उनके लिए कोई आरम्भ ही किया गया हो।

पृथिवी कायिक आदि सम्बन्धी आरम्भ आदिकी प्रेरणा जिसमें न हो तथा जो परुष निष्ठुर और पर पीड़ाकारी प्रयोगोंसे रहित हो व्रतशील आदिका उपदेश देनेवाली हो वह सर्वतः योग्य हित मित मधुर और मनोहर वाक्यशुद्धि है। वाक्यशुद्धि सभी सम्पदाओंका आश्रय है।

§ १७. कर्मक्षयके लिए जो तपा जाय वह तप है।

§ १८-२०. सचेतन या अचेतन परिग्रहकी निवृत्तिको त्याग कहते हैं। आभ्यन्तर तपोंमें आये हुए उत्सर्गमें नियत समयके लिए सर्वोत्सर्ग किया जाता है पर त्यागधर्ममें यथाशक्ति और अनियतकालिक त्याग होता है अतः दोनों पृथक् पृथक् हैं। इसी तरह शौचधर्ममें परिग्रहके न रहनेपर भी कर्मोदयसे होनेवाली तृष्णाकी निवृत्ति की जाती है पर त्यागमें विद्यमान परिग्रह छोड़ा जाता है। अथवा त्यागका अर्थ है स्वयोग्य दान देना। संयतके योग्य ज्ञानादि दान देना त्याग है।

§ २१. शरीर आदिमें संस्कार और राग आदिकी निवृत्तिके लिए 'ममेदम्—यह मेरा है' इस प्रकारके अभिप्रायका त्याग आकिञ्चन्य है। 'इसके कुछ नहीं' इस प्रकार अकिंचन भावको आकिञ्चन्य कहते हैं।

§ २२-२३. 'मैंने उस कलागुण विशारदा स्त्रीको भोगा था' इस प्रकार अनुभूतांगनाका स्मरण स्त्रीकथाश्रवण रतिकालीन गन्ध द्रव्योंकी सुवास और स्त्रीसंसक्त शय्या आसन स्थान आदिका परिवर्जन करनेपर परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा, ब्रह्म अर्थात् गुरु, उसके अधीन अपनी वृत्ति रखना ब्रह्मचर्य है। गुरुकी आज्ञापूर्वक चलना भी ब्रह्मचर्य ही है।

§ २४-२५. यद्यपि ये सभी यथासंभव गुप्ति और समितियोंमें अन्तर्भूत हो जाते हैं फिर भी इन धर्मोंमें चूँकि संवरको धारण करनेकी सामर्थ्य है इसलिए 'धारण करनेसे धर्म' इस सार्थक संज्ञावाले धर्मोंका पृथक् उपदेश किया है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है। जैसे ऐर्यापथिक रात्रिन्दिनीय पाक्षिक चातुर्मासिक सांवत्सरिक उत्तमस्थानिक ये सात प्रतिक्रमण

गुप्ति आदिकी प्रतिष्ठाके लिए किये जाते हैं उसी तरह उत्तम क्षमा आदि दस प्रकारके धर्म की भावना भी गुप्ति आदिके परिपालनके लिए ही है, अतः इनका पृथक् उपदेश किया है।

§ २६. 'ये क्षमा आदि धर्म किसी दृष्टप्रयोजनकी प्राप्तिके लिए धारण नहीं किये जाते और इसलिए ये संवरके कारण होते हैं' इस विशेषताकी सूचना देनेके लिए उत्तम विशेषण दिया जाता है—उत्तमक्षमा उत्तम मार्दव आदि।

§ २७. इन उत्तमक्षमा आदि धर्मोंमें स्वगुण प्राप्ति तथा प्रतिपक्षी दोषकी निवृत्तिकी भावना की जाती है अतः ये संवरहेतु हैं। व्रतशीलका रक्षण इहलोक और परलोकमें दुःख न होना और समस्त जगत्में सम्मान सत्कार होना आदि क्षमाके गुण हैं। धर्म अर्थ काम और मोक्षका नाश करना आदि क्रोधके दोष हैं। यह विचार कर क्षमा धारण करनी चाहिए। दूसरा यदि अपने ऊपर क्रोध करता है और गाली देता है तो सोचना चाहिये कि ये दोष मुझमें विद्यमान ही हैं, यह क्या मिथ्या कहता है? यदि वे दोष अपने मनमें न हों तो सोचना चाहिये कि यह विचारा अज्ञानसे ऐसा कहता है, अतः क्षमा ही करनी चाहिये। जैसे कोई बालक यदि परोक्ष में गाली देता है तो क्षमा ही करनी चाहिये। सोचना चाहिये कि बालकोंका यह स्वभाव ही है। भाग्यवश हमें पीठ पीछे ही गाली देता है सामने तो नहीं। बालक तो मुँह पर गाली देते हैं अतः लाभ ही है। सामने गाली देनेपर सोचना चाहिये कि गाली ही तो दी है मारा तो नहीं है। बाल तो मारते भी हैं। मारनेपर सोचना चाहिये कि इसने मारा ही तो है प्राण तो नहीं ले लिये। बाल तो प्राण भी ले लेते हैं। प्राण ले लेने पर भी क्षमा ही करना चाहिये। सोचना चाहिये कि इसने प्राण ही लिये हैं धर्म तो नहीं ले लिया। इस तरह बालस्वभावके चिन्तन द्वारा चित्तमें क्षमाभावको पुष्ट करना चाहिये। सोचना चाहिये कि हमने ही ऐसा खोटा कर्म बाँधा था जिसके फलस्वरूप गाली सुननी पड़ रही है, यह तो इसमें निमित्तमात्र है।

निरभिमानी और मार्दवगुणयुक्त व्यक्तिपर गुरुओंका अनुग्रह होता है। साधुजन भी उसे साधु मानते हैं। गुरुके अनुग्रहसे सम्यग्ज्ञान आदिकी प्राप्ति होती है और उससे स्वर्गादिसुख मिलते हैं। मलिन मनमें व्रतशील आदि नहीं ठहरते साधुजन उसे छोड़ देते हैं। तात्पर्य यह कि अहंकार समस्त विपदाओंकी जड़ है। सरल हृदय गुणोंका आवास है, वे मायाचारसे डरते हैं। मायाचारीकी निन्द्यगति होती है। शुचि आचारवाले निर्लोभ व्यक्तिका इस लोकमें सन्मान होता है। विश्वास आदि गुण उसमें रहते हैं। लोभीके हृदयमें गुण नहीं रहते। वह इस लोक और परलोकमें अनेक आपत्तियों और दुर्गतिको प्राप्त होता है। सभी गुणसम्पदाएँ सत्य-वक्तामें प्रतिष्ठित होती हैं। झूठेका बन्धुजन भी तिरस्कार करते हैं। उसके कोई मित्र नहीं रहते। जिह्वाछेदन सर्वस्वहरण आदि दण्ड उसे भुगतने पड़ते हैं। संयम आत्माका हितकारी है। संयमी पुरुषकी यहीं पूजा होती है, परलोककी तो बात ही क्या? असंयमी निरन्तर हिंसा आदि व्यापारोंमें लिप्त होनेसे अशुभ कर्मका संचय करता है। तपसे सभी अर्थोंकी सिद्धि होती है। इससे ऋद्धियोंकी प्राप्ति होती है। तपस्वियोंके चरणरजसे पवित्र स्थान ही तीर्थ बने हैं। जिसके तप नहीं वह तिनकेसे भी लघु है। उसे सब गुण छोड़ देते हैं, वह संसारसे मुक्त नहीं हो सकता। परिग्रहका त्याग करना पुरुषके हितके लिए है। जैसे जैसे वह परिग्रहसे रहित होता है वैसे वैसे उसके खेदके कारण हटते जाते हैं। खेदरहित मनमें उपयोगकी एकाग्रता और पुण्य संचय होता है। परिग्रहकी आशा बड़ी बलवती है वह समस्त दोषोंकी उत्पत्तिका स्थान है। जैसे पानीसे समुद्रका बडवानल शान्त नहीं होता उसी तरह परिग्रहसे आशासमुद्रकी तृप्ति नहीं हो सकती। यह आशा का गड्ढा दुष्पूर है। इसका भरना बहुत कठिन है। प्रतिदिन जो उसमें डाला जाता है वही समा कर मुँह बाने लगता है। शरीर आदिसे ममत्वशून्य व्यक्ति परम सन्तोषको प्राप्त होता है। शरीरादिमें राग करने वालेके सदा संसार परिभ्रमण सुनिश्चित है।

ब्रह्मचर्यको पालन करनेवालेके हिंसा आदि दोष नहीं लगते। नित्य गुरुकुलवासीको गुण सम्पदाएँ अपने आप मिल जाती हैं। स्त्रीविलास विभ्रम आदिका शिकार हुआ प्राणी पापोंका का भी शिकार बनता है। संसारमें अजितेन्द्रियता बड़ा अपमान कराती है। इस तरह उत्तम क्षमा आदि गुणोंका तथा क्रोधादि दोंषोंका विचार करनेसे क्रोधादिकी निवृत्ति होनेपर तन्निमित्तक कर्मोंका आस्रव रुककर महान् संवर होता है।

§ २८. सभी उत्तम क्षमादिमें एक संवर रूप धर्मभाव पाया जाता है अतः उसकी प्रधानतासे धर्म शब्दमें एक वचन दिया गया है। धर्म शब्द नित्य पुल्लिंग है अतः 'ब्रह्मचर्याणि'के साथ भी वह अपना लिंग नहीं छोड़ता।

अनुप्रेक्षाओंका वर्णन—

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभ धर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥

अनित्य अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं।

§ १. आत्माने रागादि परिणामोंसे कर्म और नोकर्म रूपमें जिन पुद्गल द्रव्योंका ग्रहण किया है वे उपात्त पुद्गलद्रव्य तथा परमाणु आदि अनुपात्त पुद्गल सभी द्रव्य-दृष्टिसे नित्य होकर भी पर्याय दृष्टिसे प्रतिक्षण पर्याय परिवर्तन होनेसे अनित्य हैं। शरीर इन्द्रियोंके विषयभोग आदि जलबुद्बुदकी तरह विनश्वर हैं। गर्भादि अवस्थाओंमें जो संयोग थे वे आज नहीं हैं। इनमें अज्ञानवश मोही जीव नित्यताका भ्रम करता है। आत्माके ज्ञानदर्शनोपयोग स्वभावको छोड़कर अन्यपदार्थ ध्रुव नहीं है। इस प्रकार संसारके पदार्थोंमें अनित्य भावना भानी चाहिये। इस प्रकार विचार करनेसे भोगकर फेंकी गई माला गन्ध आदि द्रव्योंकी तरह इन पदार्थोंके वियोगमें भी मनस्ताप नहीं होगा।

§ २. शरण दो प्रकार की है एक लौकिक दूसरी लोकोत्तर। यह प्रत्येक जीव अजीव और मिश्रके भेदसे तीन तीन प्रकारकी है। राजा या देवता आदि लौकिक जीव शरण हैं। कोट आदि अजीव शरण हैं तथा गाँव नगर आदि मिश्र शरण हैं। पंचपरमेष्ठी लोकोत्तर जीवशरण हैं उनके प्रतिबिम्ब आदि अजीवशरण हैं तथा धर्मोपकरणसहित साधुजन मिश्र शरण हैं। भूखे मांसखोर व्याघ्रके पंजोंसे एकान्तमें पकड़े गये हिरणके बच्चेकी तरह जन्म जरा रोग मृत्यु प्रिय-वियोग अप्रिय संयोग अलाभ और दारिद्र्य आदि दुःखोंसे ग्रस्त इस जन्तुको कोई शरण नहीं है। यह परिपुष्ट शरीर मात्र भोजन करनेमें सहायक है आपत्ति पड़नेपर नहीं। प्रयत्नसे संचित धन आदि भी पर्यायान्तर तक नहीं जाते। सुख दुःखके साथी मित्र भी मरणसे रक्षा नहीं कर सकते। आस पास जुटे बन्धुजन भी रोगसे नहीं बचा सकते। यदि कोई एकमात्र तरणोपाय है तो वह अच्छी तरह आचरण किया गया धर्म ही है। यही आपत्ति-सागरसे पार उतार सकता है। मृत्युके पाशसे इन्द्र आदि भी नहीं बचा सकते। अतः भवव्यसनोंसे बचानेवाला एकमात्र धर्म ही शरण है। मित्र धन आदि कोई शरण नहीं हैं। इस प्रकारकी विचारधारा अशरण भावना है। इस प्रकार 'मैं अशरण हूँ' इस भावनासे भय या उद्वेगके आनेपर सांसारिक भावोंमें ममत्व नहीं रहता और केवली भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञके द्वारा प्रणीत वचनोंकी ओर ही चित्त जाता है।

§ ३. द्रव्यादि के निमित्तसे आत्माकी पर्यायान्तरप्राप्तिको संसार कहते हैं।

आत्माकी चार अवस्थाएँ होती हैं—संसार असंसार नोसंसार और इन तीनोंसे विलक्षण। अनेक योनिवाली चारों गतियोंमें परिभ्रमण करना संसार है। फिर जन्म न लेना—शिवप्रद प्राप्ति या परम सुख प्रतिष्ठा असंसार है। चतुर्गतिमें परिभ्रमण न होनेसे तथा अभी मोक्षकी प्राप्ति न होनेसे सयोगकेवलीकी जीवन्मुक्त अवस्था ईषत्संसार या नो संसार है। अयोगकेवली